

## जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुशीलन

### पृष्ठभूमि

जन्मके साथ मृत्युका और मृत्युके साथ जन्मका अनादि-प्रवाह सम्बन्ध है। जो उत्पन्न होता है। उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है<sup>१</sup>। इस तरह जन्म और मरणका प्रवाह तबतक प्रवाहित रहता है जबतक जीवकी मुक्ति नहीं होती। इस प्रवाहमें जीवोंको नाना क्लेशों और दुःखोंको भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रियविषयोंमें आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य-को जानते हुए भी उससे मुक्ति पानेकी ओर लक्ष्य नहीं देते<sup>२</sup>। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्युपर आँसू बहाते एवं शोक प्रकट करते हैं।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तोंकी वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्युको अच्छा मानते हैं और यह सोचते हैं कि जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरेसे आत्माको छुटकारा मिल रहा है<sup>३</sup>। अतएव जैन मनीषियोंने उनकी मृत्युको 'मृत्युमहोत्सव'के रूपमें वर्णन किया है<sup>४</sup>। इस वैलक्षण्यको समझना कुछ कठिन नहीं है। यथार्थमें साधारण लोग संसार (विषय-कषायके पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अतः उनके छोड़नेमें उन्हें दुःखका अनुभव होता है और उनके मिलनेमें हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्माके भेदको समझनेवाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषायकी पोषक बाह्य वस्तुओंको ही, अपितु अपने शरीरको भी पर—अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीरको छोड़नेमें उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनियाको नहीं मानते, किन्तु मुक्तिको समझते हैं और सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणोंको अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीरके त्यागपर 'मृत्यु-महोत्सव' मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, नर्जरित, कुछ क्षणोंमें जानेवाले और विपद्-ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीरको छोड़ने तथा नये शरीरको ग्रहण करनेमें उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन, जीर्ण और काम न दे सकनेवाले वस्त्रको छोड़ने तथा नवीन वस्त्रके परिधानमें अधिक प्रसन्न होता है<sup>५</sup>।

१. 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।'—गीता, २-२७।

२. ३. 'संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भूतैर्भवेन्नृणाम् ।

मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥'—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १७।

४. 'ज्ञानिन् ! भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे ।

स्वरूपस्थः पुरं याति देहाद्देहान्तरस्थितिः ॥ —मृत्युमहोत्सव, श्लो० १०।

५. जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।

स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ॥—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५।

गीतामें भी इसी भावको प्रदर्शित किया गया है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥—गीता, २-२२।

इसी तथ्यको दृष्टिमें रखकर संवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारनेके लिए उक्त परिस्थितियोंमें सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नहीं चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-विलपते, संव्लेश करते और राग-द्वेषकी अग्निमें झुलसते हुए असावधान अवस्थामें हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्ज्वल परिणामोंके साथ विवेकपूर्ण स्थितिमें वीरोंकी तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक और साधु दोनोंके इसी उद्देश्यकी पूरक है। प्रस्तुतमें उसीके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डाला जाता है।

## सल्लेखना और उसका महत्त्व

‘सल्लेखना’ शब्द जैन-धर्मका पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—‘सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना’—सम्यक् प्रकारसे काय और कषाय दोनोंको कृश करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह कि मरण-समयमें की जानेवाली जिस क्रिया-विशेषमें बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषोंका, उनके कारणोंको कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबावके स्वेच्छासे लेखन अर्थात् कृशिकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेषका नाम सल्लेखना है<sup>१</sup>। उसीको ‘समाधिमरण’ कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों, तपों और संयमकी संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-संस्कृतिमें ‘व्रतराज’ भी कहा है।

अपने परिणामोंके अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलोंके संयोगका नाम जन्म है और उन्हींके क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होनेको मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकारका है—एक नित्यमरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदिका ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्यायकी प्राप्तिके साथ पूर्व पर्यायका नाश होना तद्भव-मरण है<sup>२</sup>। नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामोंपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर तद्भव-मरणका कषायों एवं विषय-वासनाओंकी न्यूनाधिकताके अनुसार आत्म-परिणामोंपर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरणको सुधारने और अच्छा बनानेके लिये ही पर्यायके अन्तमें ‘सल्लेखना’ रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखनासे अनन्त संसारकी कारणभूत कषायोंका आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरणका प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा बिलकुल सूख जाता है। जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखनाधारण पर बल देते हुए कहते हैं<sup>३</sup> कि ‘जो भद्र एक पर्यायमें समाधिमरण-पूर्वक मरण करता है वह संसारमें सात-आठ पर्यायसे अधिक परिभ्रमण नहीं करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है।’ आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारकका महत्त्व बतलाते हुए यहाँ तक

१. (क) ‘सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापन-क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।’—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२।

(ख) ‘मारणान्तिकीं सल्लेखनां ज्योषिता’—आ० गृद्धपिच्छ, तत्त्वार्थसू० ७-२२।

२. ‘स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः। मरणं द्विविधम्, नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्।’—

—अकलङ्कदेव, तत्त्वार्थवा० ७-२२।

३. ‘एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।

ण हु सो हिडदि बहुसो सत्तट्ट-भवे पमत्तूण ॥’—भगवती आरा०।

लिखते हैं<sup>१</sup> कि 'सल्लेखना-धारक (क्षपक) का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करने-वाला व्यक्ति भी देवगतिके सुखोंको भोगकर अन्तमें उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है ।'

तेरहवीं शताब्दीके प्रौढ़ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजीने भी इसी बातको बड़े ही प्रांजल शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए कहा है<sup>२</sup> कि 'स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचारके योग्य है । परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत रोग बढ़ता ही जाय, तो ऐसी स्थितिमें उस शरीरको दुष्टके समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है ।' वे असावधानी एवं आत्मघातके दोषसे बचनेके लिए कुछ ऐसी बातोंकी ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्य मरणकी सूचना मिल जाती है । उस हालतमें व्रतीको आत्मघर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखनामें लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है ।

इसी तरह एक अन्य विद्वान्ने भी प्रतिपादन किया है कि 'जिस शरीरका बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिकके प्रतीकार करनेकी शक्ति नहीं रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषोंको यथाख्यातचारित्र्य (सल्लेखना) के समयको इंगित करता है<sup>३</sup> ।

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टिमें समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरणकी सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जानेपर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग करता है । वे लिखते हैं<sup>४</sup> :—

'जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषोंको कायकलेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समयमें सावधानीपूर्वक किये गये समाधिमरणसे जीवोंको सहजमें प्राप्त हो जाता है ।<sup>५</sup> अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमें समाधिपूर्वक शरीर-त्यागसे प्राप्त हो जाती है ।'

'बहुत कालतक किये गये उग्र तपोंका, पाले हुए व्रतोंका और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र ज्ञानका एक-मात्र फल शान्तिके साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है ।'

१. 'सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएण ।  
भोत्तूण य देव-सुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥—भगवती आरा० ।
२. 'कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः ।  
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥' —आशाधर, सागरधर्मा० ८-६ ।
३. 'देहादिवैकृतैः सम्यक्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।  
मृत्यावाराधनामग्नमतेद्वरे न तत्पदम् ॥—सागरधर्मा०, ८-१० ।
४. प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्जङ्गुक्ति त्यजत्प्रतीकारम् ।  
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥—आदर्श सल्ले०, पृ० १९ ।
५. यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्त्रतायासविडम्बनात् ।  
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥  
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।  
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥—मृत्युमहोत्सव, श्लोक २१, २३ ।

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके विद्वान् स्वामी समन्तभद्रकी मान्यतानुसार जीवनमें आचरित तपोंका फल वस्तुतः अन्त समयमें गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्तिके साथ धारण करनेपर जोर देते हैं<sup>१</sup>।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखनाके महत्त्व और आवश्यकताको बतलाते हुए लिखते हैं<sup>२</sup> कि 'मरण किसीको इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकारके सोना-चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदिका व्यवसाय करने-वाले किसी व्यापारीको अपने उस घरका विनाश कभी इष्ट नहीं है, जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाशका कारण (अग्निका लगना, बाढ़ आजाना या राज्यमें विप्लव होना आदि) उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी रक्षाका पूरा उपाय करता है और जब रक्षाका उपाय सफल होता हुआ दिखाई नहीं देता, तो घरमें रखे हुए बहुमूल्य पदार्थोंको बचानेका भरसक प्रयत्न करता है और घरको नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणोंका अर्जन करनेवाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुण-रत्नोंके आधारभूत शरीरकी, पोषक आहार-औषधादि द्वारा, रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नहीं है। पर देववश शरीरमें उसके विनाश-कारण (असाध्य रोगादि) उपस्थित हो जायँ, तो वह उनको दूर करनेका यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीरकी रक्षा अब सम्भव नहीं है, तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणोंकी वह सल्लेखना-द्वारा रक्षा करता है और शरीर-को नष्ट होने देता है।'

इन उल्लेखोंसे सल्लेखनाकी उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहजमें जानी जा सकती है। ज्ञात होता है कि इसी कारण जैन-संस्कृतिमें सल्लेखनापर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकोंने अकेले इसी विषयपर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओंमें अनेकों स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्यकी 'भगवती आराधना' इस विषयका एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्युमहोत्सव', 'समाधिमरणोत्साहदीपक', 'समाधिमरणपाठ' आदि नामोंसे संस्कृत तथा हिन्दीमें भी इसी विषयपर अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।

**सल्लेखनाका काल, प्रयोजन और विधि**

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहाँ और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखना-धारणका काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ --रत्नकरण्डश्रावका० ५-१।

१. अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।

तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ --रत्नकरण्डश्रा० ५-२ ।

२. 'मरणस्यानिष्टत्वात् । यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः । तद्विनाश-कारणे च कृतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति । दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते । एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति । तदुपप्लववकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति । दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते ।'

—सर्वार्थसि० ७-२२ ।

‘अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग—इन अवस्थाओंमें आत्मधर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।’

स्मरण रहे कि जैन व्रती—श्रावक या साधुकी दृष्टिमें शरीरका उतना महत्त्व नहीं है जितना आत्माका है; क्योंकि उसने भौतिक दृष्टिको गौण और आध्यात्मिक दृष्टिको उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीरकी उक्त उपसर्गादि संकटावस्थाओंमें, जो साधारण व्यक्तिको विचलित कर देनेवाली होती हैं, आत्मधर्मसे च्युत न होता हुआ उसकी रक्षाके लिए साम्यभावपूर्वक शरीरका उत्सर्ग कर देता है। वास्तवमें इस प्रकारका विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षोंके चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसीसे सल्लेखना एक असामान्य असिधारा-व्रत है जिसे उच्च मनःस्थितिके व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं। सच बात यह है कि शरीर और आत्माके मध्यका अन्तर (शरीर जड़, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेनेपर सल्लेखना-धारण कठिन नहीं रहता। उस अन्तरका ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि ‘शरीरका नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्मका नाश नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीरका नाश हो जानेपर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्मधर्मका नाश हो जानेपर उसका पुनः मिलना दुर्लभ है।’ अतः जो शरीर-मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्माके अन्तरको जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मासे परमात्माकी ओर बढ़ते हैं। जैन सल्लेखनामें यही तत्त्व निहित है। इसीसे प्रत्येक जैन देवोपासनाके अन्तमें प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है<sup>२</sup>—

‘हे जिनेन्द्र ! आप जगत् बन्धु होनेके कारण मैं आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। उसके प्रभावसे मेरे सब दुःखोंका अभाव हो, दुःखोंके कारण ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश हो और कर्मनाशके कारण समाधिमरणकी प्राप्ति हो तथा समाधिमरणके कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।’

जैन संस्कृतिमें सल्लेखनाका यही आध्यात्मिक उद्देश्य एवं प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पदकी उसमें कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधुने जो अब तक व्रत-तपादि पालनका घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे है, आत्म-शक्ति बढ़ाई है और असाधारण आत्म-ज्ञानको जागृत किया है उसपर सुन्दर कलश रखनेके लिए वह अन्तिम समयमें भी प्रमाद नहीं करना चाहता। अतएव वह जागृत रहता हुआ सल्लेखनामें प्रवृत्त होता है।

सल्लेखनावस्थामें उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है? इस सम्बन्धमें भी जैन लेखकोंने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्तभद्रने सल्लेखनाकी निम्न प्रकार विधि बतलाई है<sup>३</sup> :—

१. नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।

देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥ —सा० ध०, ८-७ ।

२. दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य ।

मम होउ जगदबन्धव ! तव जिणवर ! चरणसरणेण ॥—भारतीय० ज्ञान० पू०, पृ० ८७ ।

३. स्नेहं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।

स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥

आलोच्य सर्वमेतः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।

आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओंमें राग, अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनोंमें ममत्व और धनादिमें स्वामित्वका त्याग करके मनको शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंसे जीवनमें हुए अपराधोंको क्षमा कराये और स्वयं भी उन्हें प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वयं किये, दूसरोंसे कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापोंकी निश्चल भावसे आलोचना (उनपर खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतोंका अपनेमें आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्माको निर्बल बनानेवाले शोक, भय, अदसाद, ग्लानि, क्लृप्तता और आकुलता जैसे आत्म-विकारोंका भी परित्याग करे तथा आत्मबल एवं उत्साहको प्रकट करके अमृतोपम शास्त्र-वचनों द्वारा मनको प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषायको शान्त अथवा क्षीण करते हुए शरीरको भी कृष करनेके लिए सल्लेखनामें प्रथमतः अन्नादि आहारका, फिर दूध, छाछ आदि पेय पदार्थोंका त्याग करे। इसके अनन्तर कांजी या गर्म जल पीनेका अभ्यास करे।

अन्तमें उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए पूर्ण विवेकके साथ सावधानीमें शरीरको छोड़े।

इस अन्तरङ्ग और बाह्य विधिसे सल्लेखनाधारी आनन्द-ज्ञानस्वभाव आत्माका साधन करता है और वर्तमान पर्यायके विनाशसे चिन्तित नहीं होता, किन्तु भावी पर्यायको अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एवं उच्च बनानेका पुरुषार्थ करता है। नश्वरसे अनश्वरका लाभ हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा? फलतः सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषोंसे भी अपनेको बचाता है, जिनसे उसके सल्लेखना-व्रतमें दूषण लगनेकी सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं<sup>१</sup> :—

सल्लेखना ले लेनेके बाद जीवित रहनेकी आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकनेके कारण शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियोंका स्मरण करना और अगली पर्यायमें सुखोंकी चाह करना ये पाँच सल्लेखनाव्रतके दोष हैं, जिन्हें 'अतिचार' कहा गया है।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।

सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।

स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥

खरपान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।

पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥—रत्नक० श्रा० ५, ३-७ ।

१. जीवित-मरणांशसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः ।

सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥—रत्नक० श्रा० ५, ८ ।

## सल्लेखनाका फल

सल्लेखना-धारक धर्मका पूर्ण अनुभव और लाभ लेनेके कारण नियमसे निःश्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखनाका फल बतलाते हुए लिखा है<sup>१</sup> :—

‘उत्तम सल्लेखना करनेवाला धर्मरूपी अमृतका पान करनेके कारण समस्त दुःखोंसे रहित होकर या तो वह निःश्रेयसको प्राप्त करता है और या अभ्युदयको पाता है, जहाँ उसे अपरिमित सुखोंकी प्राप्ति होती है।’

विद्वद्भर पण्डित आशाधरजी कहते हैं<sup>२</sup> कि ‘जिस महापुरुषने संसार-परम्पराके नाशक समाधि-मरणको धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधिको परभवमें जानेके लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको जानेवाला व्यक्ति पासमें पर्याप्त पाथेय होनेपर निराकुल रहता है। इस जीवने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्य-मरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्यसे या पुण्योदयसे अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेवने इस समाधि-सहित पुण्य-मरणकी बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चयसे संसाररूपी पिजरेको तोड़ देता है—उसे फिर संसारके बन्धनमें नहीं रहना पड़ता है।’

## सल्लेखनामें सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम और श्रद्धाके साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधनामें गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य-कार्यमें, जिसे एक ‘महान्-यज्ञ’ कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथसे विचलित न होने देनेके लिए निर्यापकाचार्य (समाधि-मरण करानेवाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखनामें सम्पूर्ण शक्ति एवं आदरके साथ उसे सहायता पहुँचाते हैं और समाधि-मरणमें उसे सुस्थिर रखते हैं। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञान-पूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और संसारकी असारता एवं क्षणभंगुरता दिखलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो, जिन्हें वह हेय समझकर छोड़ चुका या छोड़नेका संकल्प कर चुका है, उनकी पुनः चाह न करे। आचार्य शिवार्यने भगवती-आराधना (गा० ६५०-६७६) में समाधि-मरण-करानेवाले इन निर्यापक मुनियोंका बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है :—

‘वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढश्रद्धानी, पापभीरु, परीषह-जेता, देश-काल-ज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, न्यायमार्ग-मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्त्व-विवेकी, विश्वासी और परम-उपकारी होते हैं। उनकी संख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।’

१. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।

निःपिवति पीतधर्मा सर्वेदुःखैरनालीढः ॥—रत्नक० ५-९ ।

२. सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।

समाधिमरणं येन भव-विध्वंसि साधितम् ॥

प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽजन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।

समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥

परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।

यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भव-पञ्जरम् ॥—सा०ध० ७-५८, ८-२७, २८ ।

‘४८ मुनि क्षपककी इस प्रकार सेवा करें । ४ मुनि क्षपकको उठाने-बैठाने आदिरूपसे शरीरकी टहल करें । ४ मुनि धर्म-श्रमण करायें । ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें । ४ मुनि देख-भाल रखें । ४ मुनि शरीरके मलमूत्रादि क्षेपणमें तत्पर रहें । ४ मुनि वसतिकाके द्वारपर रहें, जिससे अनेक लोग क्षपकके परिणामोंमें क्षोभ न कर सकें । ४ मुनि क्षपककी आराधनाको सुनकर आये लोगोंको सभामें धर्मोपदेशद्वारा सन्तुष्ट करें । ४ मुनि रात्रिमें जागें । ४ मुनि देशकी ऊँच-नीच स्थितिके ज्ञानमें तत्पर रहें । ४ मुनि बाहर-से आये-गयोंसे बातचीत करें । और ४ मुनि क्षपकके समाधिमरणमें विघ्न करनेकी सम्भावनासे आये लोगोंसे वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म-प्रभावना) करें । इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपककी समाधिमें पूर्ण प्रयत्नसे सहायता करते हैं । भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें कालकी विषमता होनेसे जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुणोंके धारक निर्यापक मिल जायें उतने गुणोंवाले निर्यापकोंसे भी समाधि करायें, अतिश्रेष्ठ है । पर एक निर्यापक नहीं होना चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपककी २४ घण्टे सेवा करनेपर थक जायगा और क्षपककी समाधि अच्छी तरह नहीं करा सकेगा ।’

इस कथनसे दो बातें प्रकाशमें आती हैं । एक तो यह कि समाधिमरण करानेके लिए दोसे कम निर्यापक नहीं होना चाहिए । सम्भव है कि क्षपककी समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशामें यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नहीं मिल सकता । अतः कम-से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए । दूसरी बात यह कि प्राचीन कालमें मुनियोंकी इतनी बहुलता थी कि एक-एक मुनिकी समाधिमें ४८, ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपककी समाधिको वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे । ध्यान रहे कि यह साधुओंकी समाधिका मुख्यतः वर्णन है । श्रावकोंकी समाधिका वर्णन यहाँ गौण है ।

ये निर्यापक क्षपकको जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखनामें सुस्थिर रखते हैं, उसका पण्डित आशाधरजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है<sup>१</sup> । वह कुछ यहाँ दिया जाता है :—

‘हे क्षपक ! लोकमें ऐसा कोई पुद्गल नहीं, जिसका तुमने एकसे अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित नहीं कर सका । परवस्तु क्या कभी आत्माका हित कर सकती है ? आत्माका हित तो उसीके ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते हैं । अतः बाह्य वस्तुओंसे मोहको त्यागो, विवेक तथा संयमका आश्रय लो । और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है । ‘मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शनरहित है । मैं आनन्दघन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है ।’

१. पिय-धम्मा दढ-धम्मा संविग्गावज्जभीरुणो धीरा ।

छंदण्ह पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्ह ॥

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणज्जुदा सुद-रहस्सा ।

गीदत्था भयवतो अड्यालीसं (४८) तु णिज्जवया ॥

णिज्जवया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा ।

एवको णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ —शिवार्थ, भगवती आराधना गा० ६६२-६७३ ।

२. सागारधर्माभूत ८-४८ से ८-१०७ ।



‘हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखनाको तुमने अब तक धारण नहीं किया था उसे धारण करनेका सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है । उस आत्महितकारी सल्लेखनामें कोई दोष न आने दो । तुम परीषहों-क्षुधादिके कष्टोंसे मत धबड़ाओ । वे तुम्हारे आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं सकते । उन्हें तुम सहनशीलता एवं धीरतासे सहन करो और उनके द्वारा कर्मोंकी असंख्यगुणी निर्जरा करो ।’

‘हे आराधक ! अत्यन्त दुःखदायी मिथ्यात्वका बमन करो, सुखदायी सम्यक्त्वका आराधना करो, पंचपरमेष्ठीका स्मरण करो, उनके गुणोंमें सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोगमें लीन रहो । अपने महाव्रतोंकी रक्षा करो, कषायोंको जीतो, इन्द्रियोंको वशमें करो, सदैव आत्मामें ही आत्माका ध्यान करो, मिथ्यात्वके समान दुःखदायी और सम्यक्त्वके समान सुखदायी तीन लोकमें अन्य कोई वस्तु नहीं है । देखो, धनदत्त राजाका संघश्री मन्त्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्वकी विराधना की और मिथ्यात्वका सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूट गईं और संसार-चक्रमें उसे घूमना पड़ा । राजा श्रेणिक तोत्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बादको उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभावसे उसने अपनी बँधी हुई नरककी स्थितिको कम करके तीर्थङ्कर-प्रकृतिका बन्ध किया और भविष्यत्कालमें वह तीर्थङ्कर होगा ।’

‘इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होंने परीषहों एवं उपसर्गोंको जीत करके महाव्रतोंका पालन किया, उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त किया है । सुकमालमुनिको देखो, वे जब वनमें तप कर रहे थे और ध्यानमें मग्न थे, तो श्रृगालिनोने उन्हें कितनी निर्दयतासे खाया । परन्तु सुकमालस्वामी जरा भी ध्यानसे विचलित नहीं हुए और धीरे उपसर्ग सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए । शिवभूति महामुनिको भी देखो, उनके सिरपर आँधोसे उड़कर घासका ढेर आपड़ा, परन्तु वे आत्म-ध्यानसे रत्तीभर भी नहीं डिगे और निश्चल भावसे शरीर त्यागकर निर्वाणको प्राप्त हुए । पाँचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे, तो कौरवोंके भानजे आदिने पुरातन वैर निकालनेके लिए गरम लोहेकी सांकलोंसे उन्हें बाँध दिया और कीलियाँ ठोक दीं, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गोंको सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए । युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए । विद्युच्चरने कितना भारी उपसर्ग सहा और उसने सद्गति पाई ।’

‘अतः हे आराधक ! तुम्हें इन महापुरुषोंको अपना आदर्श बनाकर धीर-वीरतासे सब कष्टोंको सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकारसे हो और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करो ।’

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमरणमें निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं । क्षपकके समाधिमरणरूप महान् यज्ञकी सफलतामें इन निर्यापक साधुवरोंका प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होनेकी प्रशंसा करते हुए आचार्य शिवायने लिखा है<sup>१</sup> :—

‘वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े आदरके साथ क्षपककी सल्लेखना कराते हैं ।’

१. ते चि य महाणुभावा धण्णा जेहि च तस्स खवयस्स ।

सन्वादेर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ।—भ० आ०, गा० २००० ।

## सल्लेखनाके भेद

जैन शास्त्रोंमें शरीरका त्याग तीन तरहसे बताया गया है<sup>१</sup>। एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१. च्युत—जो आयु पूर्ण होकर शरीरका स्वतः छूटना है वह च्युत त्याग (मरण) कहलाता है।

२. च्यावित—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्नि-दाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्तकारणोंसे शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित त्याग (मरण) कहा गया है।

३. त्यक्त—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरणकी आसन्नता ज्ञात होनेपर जो विवेकसहित संन्यासरूप परिणामोंसे शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त त्याग (मरण) है।

इन तीन तरहके शरीर-त्यागोंमें त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्थामें आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता।

इस त्यक्त शरीर-मरणको ही समाधि-मरण, संन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीरत्याग) भी तीत प्रकारका प्रतिपादन किया गया है;—

१. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिस शरीर-त्यागमें अन्न-पानको धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्तसे ऊपर तथा बारह वर्षसे नीचेका काल है। इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओंसे राग-द्वेषादि छोड़ता है और अपने शरीरकी टहल स्वयं भी करता है और दूसरोंसे भी कराता है।

२. इंगिनी<sup>२</sup>—जिस शरीर-त्यागमें क्षपक अपने शरीरकी सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरोंसे नहीं कराता उसे इंगिनी-मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी अमस्त क्रियाएँ स्वयं ही करेगा। वह पूर्णतया स्वावलम्बनका आश्रय ले लेता है।

३. प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्यागमें इस सल्लेखनाका धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरेकी, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमें शरीरको लकड़की तरह छोड़कर आत्माकी ओर ही क्षपकका लक्ष्य रहता है और आत्माके ध्यानमें ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखनाको साधक तभी धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्थामें पहुँच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्म-सामर्थ्य) प्रबल होता है।

## भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखनाके दो भेद

इनमें भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरहकी होती है:—(१) सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और (२) अविचार-प्रत्याख्यान। सविचार-भक्तप्रत्याख्यानमें आराधक अपने संघको छोड़कर दूसरे संघमें जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होनेकी हालतमें ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखनाका धारी 'अर्ह' आदि अधिकारोंके विचारपूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसीसे इसे सविचार-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। पर जिस आराधककी आयु अधिक नहीं है

१. आ० नेमिचन्द्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ५६, ५७, ५८।

२. आ० नेमिचन्द्र, गो० क० गा० ६१।

और शीघ्र मरण होनेवाला है तथा दूसरे संघमें जानेका समय नहीं है और न शक्ति है वह मुनि दूसरी अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके भी तीन भेद हैं :—१. निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परमनिरुद्ध ।

१. निरुद्ध—दूसरे संघमें जानेकी पैरोमें सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आ जायें और अपने संघमें ही रुक जाय तो उस हालतमें मुनि इस समाधिमरणको ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकारकी है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश। लोकमें जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये, वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो, वह अप्रकाश है।

२. निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषों आदिके द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आजानेपर आयुका अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिकके समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।

३. परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादिके भीषण उपद्रवोंके आनेपर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समयमें मनमें ही अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियोंके प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं।

सामान्य मरणकी अपेक्षा समाधिमरणकी श्रेष्ठता :

आचार्य शिवार्थने सतरह प्रकारके मरणोंका उल्लेख करके उनमें विशिष्ट पाँच<sup>१</sup> तरहके मरणोंका वर्णन करते हुए तीन मरणोंको प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ बतलाया है। वे तीन<sup>२</sup> मरण ये हैं :—१. पण्डितपण्डित-मरण, २. पण्डितमरण और ३. बालपण्डितमरण ।

उक्त मरणोंको स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है<sup>३</sup> कि चउदहर्वे गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान्का निर्वाण-गमन 'पण्डितपण्डितमरण' है, आचाराङ्ग-शास्त्रानुसार चारित्रके धारक साधु-मुनियोंका मरण 'पण्डितमरण' है, देशव्रती श्रावकका मरण 'बालपण्डितमरण' है, अविरत-सम्यग्दृष्टिका मरण 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टिका मरण 'बालबालमरण' है। ऊपर जो भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्राथोपगमन—इन तीन समाधिमरणोंका कथन किया गया है वह सब पण्डितमरणका कथन है। अर्थात् वे पण्डितमरणके भेद हैं।

१. पण्डितपण्डित-मरणं पण्डित्यं बाल-पण्डितं चैव ।

बाल-मरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ —भ० आ० गा० २६ ।

२. पण्डितपण्डित-मरणं च पण्डितं बालपण्डितं चैव ।

एदाणि त्तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥ —भ० आ० गा० २७ ।

३. पण्डितपण्डितमरणे खीणकसाया मरंति केवल्लिणो ।

विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ॥

पाओपगमण-मरणं भत्तप्पणा य इंगिणी चैव ।

तिविहं पण्डितमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स ॥

अविरदसम्मदिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।

मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥—भ. आ. २८, २९, ३० ।

## समाधिमरणके कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकोंकी प्रशंसा :

शिवायने इस सल्लेखनाके करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करनेवालोंको पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं :—

‘वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघके मध्यमें जाकर समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधनारूपी पताकाको फहराया है।’

‘वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्हींने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।’

‘जिस आराधनाको संसारमें महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस आराधनाको जिन्होंने पूर्णरूपसे प्राप्त किया, उनकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है?’

‘वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्तिके साथ क्षपककी आराधना कराते हैं।’

‘जो धर्मत्मा पुष क्षपककी आराधनामें उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादिके दानद्वारा सहायक होते हैं, वे भी समस्त आराधनाओंको निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्धपदको प्राप्त होते हैं।’

१. ते सूरा भयवन्ता आइच्चइऊण संघ-मज्झम्मि ।  
आराधणा-पडाया चउप्पयारा धिदा जेहि ॥  
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहि ।  
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि संपुण्णा ॥  
किं णाम तेहि लोणे महाणुभावोहि हुज्ज ण य पत्तं ।  
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहि ॥  
ते चि य महाणुभावा धण्णा जेहि च तस्स खवयस्स ।  
सन्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥  
जो उवविधेदि सन्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।  
सपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥  
ते वि कदत्था धण्णा य ह्वैति जे पावकम्म-मल-हरणे ।  
ह्लायंति खवय-तित्थे सन्वादर-भत्ति-संजुत्ता ॥  
गिरि-णदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणोहि जदि उसिदा ।  
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ॥  
पुव्व-रिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।  
खवयस्य वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥  
जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।  
सपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ॥—भ० आ० गा० १९९७—२००५ ।

‘वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, जो पापकर्मरूपी मैलको छुटानेवाले क्षपकरूपी तीर्थमें सम्पूर्ण भक्ति और आदरके साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपकके दर्शन, वन्दन और पूजनमें प्रवृत्त होते हैं।’

‘यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनोंसे सेवित होनेसे ‘तीर्थ’ कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणकी राशि क्षपक ‘तीर्थ’ क्यों नहीं कहा जावेगा ? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शनका भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दनाका होता है।’

‘यदि पूर्व ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालोंको पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपककी वन्दना एवं दर्शन करनेवाले पुरुषको प्रचुर पुण्यका संचय क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।’

‘जो तीव्र भक्तिसहित आराधककी सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुषकी भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गतिको प्राप्त होता है।’

सल्लेखना आत्म-घात नहीं है :

अन्तमें यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखनाको आत्म-घात न समझ लिया जाय; क्योंकि आत्म-घात तीव्र क्रोधादिके आवेशमें आकर या अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओंसे किया जाता है, जब कि इन क्रियाओंका और क्रोधादिके आवेशका सल्लेखनामें अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन-सम्बन्धी सुयोजनाका एक अङ्ग है।

क्या जैनेतर दर्शनोंमें यह सल्लेखना है ?

यह सल्लेखना जैन दर्शनके सिवाय अन्य दर्शनोंमें उपलब्ध नहीं होती। हाँ, योगसूत्र आदिमें ध्यानार्थक समाधिका विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है। पर उसका अन्तःक्रियासे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रयोजन केवल सिद्धियोंके प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कारसे है। वैदिक साहित्यमें वर्णित सोलह संस्कारोंमें एक ‘अन्त्येष्टि-संस्कार’ आता है<sup>१</sup>, जिसे ऐहिक जीवनके अन्तिम अध्यायकी समाप्ति कहा गया है<sup>२</sup> और जिसका दूसरा नाम ‘मृत्यु-संस्कार’ है। इस संस्कारका अन्तःक्रियाके साथ सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु मृत्यु-संस्कार सामाजिको अथवा सामान्य लोगोंका किया जाता है, सिद्ध-महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुओंका नहीं, क्योंकि उनका परिवारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और इसीलिए उन्हें अन्त्येष्टि-क्रियाकी आवश्यकता नहीं रहती<sup>३</sup>। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है<sup>४</sup>। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्ममें अन्त्येष्टिकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें मृत व्यक्तिके विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओंके लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं। हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्षके लिए इच्छाका बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति पानेके लिए कोई प्रार्थना नहीं की जाती<sup>५</sup>। पर जैन-सल्लेखनामें पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्तिकी भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है, लौकिक एषणाओंकी उसमें कामना नहीं होती। इतना यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णय-सिन्धुकारने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमुक्षु ( मरणाभिलाषी ) और दुःखित अर्थात् चौरव्याघ्रादिसे भयभीत व्यक्तिके लिए भी

१,२. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० २९६।

३. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३।

४. हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकरभट्टकृत निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

५. हिन्दूसंस्कार पृ० ३४६।

संन्यासका विधान करनेवाले कतिपय मतोंका उल्लेख किया है। उनमें कहा गया है कि 'संन्यास लेनेवाला आतुर अथवा दुःखित यह संकल्प करता है कि 'मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोषसे बुरा कर्म किया उसे मैं छोड़ रहा हूँ और सब जीवोंको अभय-दान देता हूँ तथा विचरण करते हुए किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा।' किन्तु यह कथन संन्यासीके मरणान्त-समयके विधि-विधानको नहीं बतलाता, केवल संन्यास लेकर आगे की जानेवाली चर्यारूप प्रतिज्ञाका दिग्दर्शन कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ संन्यासका वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो जैन-सल्लेखनाका अर्थ है। संन्यासका अर्थ यहाँ साधुदीक्षा—कर्मत्याग—संन्यासनामक चतुर्थ आश्रमका स्वीकार है और सल्लेखनाका अर्थ अन्त (मरण) समयमें होनेवाली क्रिया-विशेष<sup>२</sup> (कषाय एवं कायका कृशीकरण करते हुए आत्माको कुमरणसे बचाना तथा आचरित संयमादि आत्म-धर्मकी रक्षा करना) है। अतः सल्लेखना जैनदर्शनकी एक विशेष देन है, जिसमें पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवनको उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनानेका लक्ष्य निहित है। इसमें रागादिसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होनेके कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक है। निष्कर्ष यह है कि सल्लेखना आत्म-सुधार एवं आत्म-संरक्षणका अन्तिम और विचार-पूर्ण प्रयत्न है।



१. संन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा संन्यसेच्च गृहादपि ।

वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाऽथ दुःखितः ॥

उत्पन्ने संकटे घोरे चौर-व्याघ्रादि-गोचरे ।

भयभीतस्य संन्यासमङ्गिरा मनुरब्रवीत् ॥

यत्किञ्चिद्बाधकं कर्म कृतमज्ञानतो मया ।

प्रमादालस्यदोषाद्यत्तत्संत्यक्तवानहम् ॥

एवं संत्यज्य भूतेभ्यो दद्यादभयदक्षिणाम् ।

पद्भ्यां कराभ्यां विहरन्नाहं वाक्कायमानसैः ॥

करिष्ये प्राणिनां हिंसां प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिन्धु पृ० ४४७ ।

२. वैदिक साहित्यमें यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश आदिके रूपमें मिलती है।

जैसा कि माघके शिशुपालवधकी टीकामें उद्धृत निम्न पद्यसे जाना जाता है :—

अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः ।

भृग्वग्नि-जल-सम्पातैर्मरणं प्रविधोयते ॥—शिशुपालवध ४-२३ की टीकामें उद्धृत ।

किन्तु जैन संस्कृतिमें इस प्रकारकी क्रियाओंको मान्यता नहीं दी गई और उन्हें लोकमूढता बतलाया गया है :—

आपगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।

गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥—समन्तभद्र, रत्नकरण्ड० १-२२ ।